समाजिक न्याय और आरक्षण

डॉ० विनीता गुप्ता
एसोसिऐट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान
कनोहर लाल पी० जी० गर्ल्स कॉलिज, मेरठ
ईमेलः vinitagupta122002@gmail.com

सांराश

जन समुदाय से समाज का निर्माण होता है एवं इस जन समुदाय या समाज को नियन्त्रित करने के लिये नियम व कानूनों का होना आवश्यक होता है जिससे समाज को व्यवस्थित किया जा सके। समाज के प्रत्येक व्यक्ति के हितों की रक्षा के लिये न्याय की व्यवस्था की जाती है एवं यह न्याय को न्याय में परिवर्तित करने के लिये समाज को कई वर्गों के लिये विभाजित किया जाता है एंव प्रत्येक वर्ग को उसके हितों की रक्षा के लिये आरक्षण की व्यवस्था की जाती है। अनुसूचित जनजाति तथा अनूसूचित जाति के अधिकांश लोगों तक विकास का लाभ नहीं पहुॅचा है। सामाजिक न्याय की स्थापना हेतु अन्य उपबन्ध भी किये गये है एवं अनुसूचित जाति एवं जनजाति को बढ़ावा दिया है एवं उनकी शैक्षिक तथा आर्थिक हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करने तथा सभी प्रकार के शोशण से उनका संरक्षण करने का निर्देश देता है। भारतीय संविधान में न्याय को महत्व देना अच्छा है। लेकिन वास्तविक जीवन में सामाजिक न्याय को स्थापित करना कठिन है क्योंकि कानून और संविधान में लिखने के अलावा पूरक प्रावधानों और व्यवहारिक व्यवस्थाओं को स्थापित करना जरूरी होता है। समाज में औचित्य सम्बन्धों की खोज और न्यायपूर्ण बर्ताव के मार्ग के निरन्तर वृद्धि होते रहने से सामाजिक न्याय के अभियान में एवं सामाजिक न्याय की अवधारण में व्यापकता आ सकती है।

प्रस्तावना

सामाजिक न्याय विश्व की श्रेष्ठ अवधारणा है जो बहुत व्यापक और बहुआयामी है। यह एक आदर्श स्थिति है जिसकी स्थापना अनुभूति निरूतरता तथा व्यवहार आंशिक रूप से ही सम्भव हो जायेंगे। यह व्यक्ति, परिवार, समुदाय, राष्ट्र और राज्य से सम्बन्धित है। जिस तरह सामाजिक न्याय की सम्भावना हर क्षण, हर जगह हो सकती है उसी तरह इसका निशेध और उल्लंघन हर क्षण हर जगह हो सकता है। सामाजिक न्याय का सकारात्मक अथवा निशेधात्मक प्रभाव विशेषकर निर्धन, उपेक्षित, पीडित, दलित, शोषित, असहाय, विकलांग एवं कमजोर वर्ग पर पड़ता है।

मानव स्वभाव में वह कुछ ऐसी भावनाएं निहित है जिनसे नैतिकता, न्याय और सद्गुण के भाव संचारित होते है। इनसे सामाजिक सम्बन्ध के विविध पक्षों की अभिव्यक्ति होती है। न्याय का विचार गम्भीर धारणाओं के साथ प्रारम्भ हुआ। एक न्याय संगत समाज व्यवस्था को प्रत्येक युग में

सद्गुण पर आधारित माना गया और अन्यायपूर्ण समाज–व्यवस्था को दूषित माना गया। सामाजिक न्याय की सैद्धान्तिक भूमिका सभी देशों में नये समाज के निर्माण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सामाजिक न्याय व्यक्ति, सरकार और संस्थाओं की आंतरिक और ब्राह्म शक्ति है जो एक न्याय संगत समाज व्यवस्था स्थापित करने के लिए प्रेरित करती है, भारत सहित सभी देशों में सामाजिक न्याय संगठनों की स्थापना की गई। गांव व शाहरों गरीब व पीड़ित कानूनी सहायता के लिये आगे आ सके। जहां सामाजिक न्याय नहीं होता वहां व्यक्ति की स्वतन्त्रता, समानता, अधिकार, चिंतन, अभिव्यक्ति का अभाव होने लगता है। समाज निष्क्रिय, रूढ़िवादी होकर अन्दर से टूटने लगता है सरकार दमनकारी, अप्रजातान्त्रिक अनुदार बन जाती है और अन्य संस्थाएं संकीर्ण–संकुचित हो जाती है। यह कल्याणकारी राज्य की आवश्यकता हैं जिसमें राज्य की समस्त संस्थाओं से सामाजिक न्याय प्रकट हो।

प्राचीन यूनान में प्लेटों ने सामाजिक न्याय व्यवस्था मानव प्रकृति के अनुरूप तीन वर्गों में विभक्त कर व्यक्तिगत और सामाजिक स्तर पर बताई इसमें भी कार्य विभाजन, अहस्तक्षेप, अंतुलन और सामजस्य पर जोर दिया गया। प्रत्येक व्यक्ति को वह देना जो उसका हक है। सामाजिक न्याय माना गया। अरस्तू ने मध्यम वर्ग के शासन में सामाजिक न्याय को देखा और बताया कि जीवन और राज्य व्यवस्था को न्यायसंगत बनाने के लिये सभी प्रकार के अतिवाद की उपेक्षा करनी चहियेः अरस्तु ने अपनी पुस्तक 'पालिटिक्स' में लिखा है– श्रेष्ठ राजनीतिक समुदाय वह है जिसमें नियन्त्रण मध्यम वर्ग के हाथों में होता है'' मध्यम वर्ग किसी अतिवादी विचार का अनुसरण नहीं करेगा। वह विवेक, साहस, संयम और न्याय से कम काम करेगा।'' अरस्तु द्वारा न्याय को दो भागों में बाटा गया सामान्य और विशिष्ट। सामाजिक न्याय का आधार उसका सामान्य न्याय है जिसमें नैतिक गुण सार्वजनिक भलाई सद्गुण हैं और कानून की सर्वोच्चता है। सामाजिक न्याय के दो महत्तवपूर्ण पक्ष हैं– विकास और वितरण। उदारवादी पूँजीवादी चिंतन में न्यायपूर्ण वितरण का आधार व्यक्ति की योग्यता माना जाता है अधिक उद्यम करता है और अधिक योग्य बनने का प्रयास करता है जिससे उसका और समाज का विकास होता है। नवीन उदारवादी और कल्याणकारी धारणा ने सामाजिक न्याय के विकास और वितरण के पक्षों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। सामाजिक न्याय को समझने के लिये न्याय की अवधारणा का अवलोकन करना आवश्यक है।

प्राचीन कालीन रोमन और यूनानी विचारकों ने न्याय को नैतिक दायित्व और दार्शनिक सद्गुणों पर आधारित बताया। रोमन दाशनिक सिसरों के अनुसार, '' न्याय एक आंतरिक शुभ है'' पाइथागोरस ने, ''न्याय को मनुष्यों को सद्गुणों और सांमजस्य पर आधारित माना। लेकिन सोफिस्ट विचारकों ने न्याय को ''व्यक्ति सापेक्ष'' माना। प्रोटेगोरस का कथन है, ''मनुष्य ही सभी वस्तुओं का मापदण्ड है।'' थ्रेसीमेकस ने बताया, 'न्याय शक्तिशाली का हित है'' सुकरात ने सोफिस्ट विचारों का विरोध किया। उसने न्याय को प्रजा और, कमजोर के हितों से जोड़ने का बुद्धिसंगत तर्क दिया। सुकरात के शिष्य प्लेटो ने न्याय को व्यापक रूप से परिभाषित किया। उसके अनुसार, ''न्याय आत्मा का सद्गुण यह शुभ और आवश्यक है। अरस्तु ने न्याय को

विधिपरकता और निष्पक्षता के साथ जोड़ा, न्याय एक ऐसा सद्‌गुण है जिसके द्वारा विधिक दायित्वों का निर्वाह किया जाता है। ''न्याय परम्परागत रूप से ऐसा विचार है जो एक सन्तुलन या समानुपात बनाये रखे या पुनः स्थापित करे।

वास्तव में न्याय की संरचना जटिल है। यह एक दोहरी प्रक्रिया है जो अपने मार्ग के अवरोधक तत्वों को समाप्त करती है, तो दूसरी ओर अपने अस्तित्व को प्रभावी बनाने के लिए साधनों, मूल्यों एंव अभिकरणों की स्थापना करती है। न्याय की अनिवार्यता मनुष्य समाज में स्वयं सिद्ध है, भले ही उसका स्वरूप कुछ भी हो। न्याय शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है किन्तु न्याय के विशेष अर्थ का सम्बन्ध राज्य स्थापित न्यायालयों और उन माध्यमों से है जिनके निर्णय वाद के पक्षों पर लागू हो और राज्य की शक्ति से क्रियान्वित किये जा सके।

भारत के सन्दर्भ में सामाजिक न्याय

सामाजिक न्याय की सीधा सम्बन्ध समाज व्यवस्था उनकी परिस्थति के अनुसार भिन्न था। प्राचीन भारत में वैदिक धारणा के अनुसार सामाजिक न्याय को चर्तुवर्ण व्यवस्था के साथ जोड़ा गया। सांख्य दर्शन ने भी मनुश्य को त्रिगुण–सत्व, रज तथा तम की अभिव्यक्ति माना है। प्राचीन भारतीय समाज में प्रत्येक वर्ग के सदस्य के कर्त्तव्य निर्धारित किये गये। इस तरह सामाजिक न्याय में कर्त्तव्य विभाजन और सामंजस्य स्थापित किया गया। भगवतगीता ने भी इसकी पुष्टि की है। प्रो0 राधाकृष्णन ने भी इसे स्पष्ट किया और बताया कि वर्ग आधारित इन जातियों को एक दूसरे के साथ स्पर्धा न करके स्वधर्म के कार्यों को करना होता था। वर्ण के साथ चार आश्रमों ब्रह्मचर्य, गष्हस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास को भी जोडा गया ताकि विभिन्न अवस्था में व्यक्ति अपने साामजिक कर्त्तव्यों का निर्वाह कर सके। प्राचीन भारत की इस सामाजिक न्याय व्यवस्था में स्त्रियों की स्थिति उनके वर्णों के साथ जोड़ी गई किन्तु उन्हें गृह कार्य और बच्चों के पालन–पोषण का दायित्व दिया गया।

आधुनिक काल में नव चेतना का प्रारम्भ हुआ। भारत जैसे देशों में राष्ट्रीय आंदोलन युग के साथ स्वतन्त्रता, मानवतावाद, उदारवाद का प्रसार हुआ। आधुनिक युग के साथ सामाजिक न्याय की धारणा को नया संदर्भ और नया अर्थ मिला जिससे सामाजिक दृष्टिकोण बदलने लगे। सामाजिक न्याय को पाश्चात्य शिक्षा और ब्रिटिश शासन से बल मिला। ईसाई धर्म ने जाति तथा छुआछूत की कठोरता कम की। चर्च ने समाज में समानता को बल देने के साथ सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को भी गति दी। निम्न जाति में मानव की गरिमा को स्थापित किया और उन्हें शिक्षित होने के अवसर दिये।

ब्रिटिश शासन ने सामाजिक न्याय के अभिकरणों के रूप में विधायिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका स्थापित की। धर्म की भूमिका को पृष्ठभूमि में डाला गया और एक शक्तिशाली अभिकरण के रूप में राज्य सामने आया। भारतीय समाज में नवचेतना, बौद्धिक, पुनर्जागरण, राष्ट्रवाद, शिक्षा राजनैतिक चेतना के कारण सामाजिक मूल्य और मानवीय सम्बन्ध बदले। देश की स्वतन्त्रता के बाद सामाजिक न्याय की स्थापना में बाधा नहीं रहेगी, यह आशा निम्न जाति और पिछड़े वर्ग को थी इसीलिये 1947 में स्वतन्त्रतां प्राप्ति के साथ ही ये संविधान के निर्माण

''न्याय सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक'' के लक्ष्य को सामने रखा गया। संविधान की प्रस्तावना सहित अनेक स्थानों पर ऐसे प्रावधान रखे गये जो सामाजिक न्याय की स्थापना में सहायक हो सके। विधायिका, कार्यपालिका द्वारा भी इस दिशा में अनेक कानून बने योजनायें बनाई गई। न्याय पालिका के निर्णय भी इस दिशा में काफी हद तक सहायक रहे।

प्रजातांत्रिक सरकार का अंतिम लक्ष्य अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम कल्याण होता है यह तब ही संभव है जब जनकल्याण योजनाओं में पिछड़ों, पीड़ितो व गरीबों को प्राथमिकता दी जाए। इसी उद्धेश्य को ध्यान में रखकर संविधान निर्माताओं ने दस वर्षों के लिए आरक्षण नियमित रूप से बढ़ाया जाता रहा है। आरक्षण को मूलरूप में समाज में व्याप्त असामान्य सामाजिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक व आर्थिक असमानता को न्यूनतम करने के लक्ष्य के साधन के रूप में अपनाया गया था।

सैद्धांतिक व प्राकषतिक न्याय की दृष्टि से तो तर्क का समर्थन किया जा सकता है कि जिन जातियों व वर्गों को पिछले हजारों सालों में जितना जिस प्रकार अपमानित, उपेक्षित व पीड़ित, किया गया है उसको ध्यान में रखते हुए तो वर्तमान नीति को सैकड़ों सालों तक जारी ही नहीं बल्कि बढ़ाने की आवश्यकता है।

करना तो वास्तव में यह भी चाहिए कि जिस पीढ़ी के व्यक्ति को आरक्षण का लाभ मिल गया है उसकी संतान को ऐसे लाभ वंचित कर अधिक पिछड़ों व पीड़ितों के लिए अधिक अवसरों की व्यवस्था की जाए, जिससे उनमें ही वर्ग संघर्ष का खतरा पैदा नहीं होता है। पेट में भूख का अहसास तो उच्च वर्ग के गरीब को भी उतना ही होता है, तो फिर गरीब व्यक्तियों के लिए 10–15 प्रतिशत आरक्षण का विरोध करना अमानवीय सोच क्यों नहीं मानी जानी चाहिए।

समाज के इन दुर्बल समूहों के हितों की रक्षा में संविधान से संबधित कुछ प्रावधान दिए गए–

1. संविधान में धर्म, मूल, वंश, जाति, लिंग या अन्य स्थान के आधार पर विभेद का प्रतिशेध किया गया है। लेकिन राज्य अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए विशेष व्यवस्था कर सकता है।(अनुच्छेद 15)

2. दुकानों, सार्वजनिक, भोजनालयों, होटलों तथा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों, कुओं, तालाबों, स्नान–घाटों और ऐसी सड़कों और सार्वजनिक स्थानों के उपयोग पर लगी सभी रूकावटों को हटाया जाएगा जिनका पूरा कुछ व्यय सरकार उठाती है अथवा जो जनसाधारण के लिए निर्मित है (अनुच्छेद 15 (2))

3. राज्य के अधीन नियोजन या नियुक्ति के मामले में सभी नागरिकों को अवसर की समानता का निर्देश दिया गया है। लेकिन अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए विशेष व्यवस्था की जा सकती है। (अनुच्छेद 16)

4. अस्पृष्यता का उन्मूलन तथा इसके किसी भी रूप में प्रचलन का प्रतिशेध किया है। (अनुच्छेद 17)

5. अनुसूचित जनजातियों के हितों की रक्षा के लिए नागरिकों को प्रदत्त स्वतन्त्रता के मूल अधिकार पर विधि द्वारा रोक लगाई जा सकती है। (अनुच्छेद 19)

6. अनुसूचित जातियों और जनजातियों को बंधक मजदूर बनाने के प्रसंग को ध्यान में रखते हुए बलाम श्रम प्रतिबंध लगाया है। (अनुच्छेद 23)

7. सभी व्यक्तियों को अन्तःकरण तथा किसी धर्म को मानने तथा उसके प्रचार की स्वतन्त्रता है। हिन्दुओं की सभी प्रकार की धर्म–संस्थाएँ सभी हिन्दुओं के लिए खुली रहेंगी। (अनुच्छेद 25)

8. बिहार, मध्य प्रदेश और उड़ीसा में जनजतियों के कल्याण–हेतु कार्यप्रभारी मन्त्री की नियुक्ति की व्यवस्था की जाएगी। (अनुच्छेद 164)

9. अनुसूचित और जनजातीय क्षेत्रों के लिए विशेष व्यवस्था करने के लिए कदम उठाए जाएँगे। (अनुच्छेद 244 और 244–क तथा पॉचवी और छठीं अनुसूचियॉ)

निष्कर्ष

सामाजिक न्याय से सम्बन्ध है सभी वर्गो–व्यक्तियों के साथ एक सा न्याय उचित अनुचित का निर्णय न्याय है। सामाजिक न्याय से आशय है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति, समूह और वर्ग खासकर कमजोर लोगों के हितों की रक्षा कर सके। समाज का अन्तिम व्यक्ति भी सम्मानजनक और प्रतिष्ठा का जीवन व्यतीत कर सके। हजारों वर्शों से समाज में आर्थिक असमानताओं ओर पिछड़ेपन को दूर करने के उद्देश्य से शोषित–दलित पीड़ित, पिछड़ें, शूद्रों को सामाजिक को दूर करने का प्रावधान किया है। सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़ें वर्गों के लिए अतः नो में विशेष प्रावधान किये गये हैं। सामाजिक न्याय के अन्तर्गत प्रावधान किसी एक वर्ग के लिए नहीं है, सामाजिक न्याय का उद्देश्य दलित वर्गों के व्यक्तियों के हड़पे हुए वाजिब हक वापिस दिलाना सामाजिक न्याय माना गया है। सामाजिक न्याय का सकारात्मक अथवा निषेधात्मक प्रभाव विशेषकर निर्धन उपेक्षित पीड़ित, दलित, शोषित, असहाय, विकलांग एवं कमजोर वर्ग पर पड़ता है। जहाँ सामाजिक न्याय नहीं होता वहां व्यक्ति को स्वतन्त्रता, समानता अधिकार, चिन्तन अभिव्यक्ति का अभाव होने लगता है। समाज निश्क्रय रूढ़िवादी होकर अन्दर से टूटने लगता है। सरकार दमनकारी अप्रजातान्त्रिक अनुदार बन जाती है। सामाजिक न्याय को पाश्चात्य शिक्षा और ब्रिटिश शासन से बल मिला। ईसाई धर्म में जाति अथवा छुआछूत की कठोरता को कम किया एवं निम्न जाति में मानव की गरिमा को स्थापित किया और उन्हें शिक्षित होने के अवसर दिये।

आरक्षण की इतनी बढ़ चढ़कर मॉग करने वाले क्या वास्तव में ही सामाजिक न्याय व समानता के लक्ष्य के प्रति समर्पित हैं? इस तर्क को जान–बूझकर स्वीकार नहीं करते हैं कि क्रीमोलेयर वालों को इसका लाभ मिलना बंद हो जाए, जिससे बाकी बचे अधिक लाभ प्राप्त कर सकें व पदोन्नति में इस व्यवस्था को समाप्त कर दिया जाए। उनका तर्क देखिए कि जिस पिता की पाँचों संतान भारतीय प्रशासनिक सेवा में हो उसके पोतों को भी यह लाभ मिलता रहे अर्थात् सर्वाधिक पिछड़ों को लाभ से वंचित कर दिया जाए।

करना तो वास्तव में यह भी चाहिए कि जिस पीढ़ी के व्यक्ति को आरक्षण का लाभ मिल गया है उसकी संतान को ऐसे लाभ से वंचित कर अधिक पिछड़ों व पीड़ितों के लिए अधिक

अवसरों की व्यवस्था की जाए, जिससे उनमें ही वर्ग संघर्ष का खतरा पैदा नहीं हो सके। आरक्षण के उन्मादियों को यह भी समझना चाहिए कि गरीबी से बड़ी सजा दूसरी नहीं होती है। ऐसा करना वर्तमान संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार संभव नहीं है तो उसमें परिवर्तन क्यों नहीं किया जा सकता है? कुल मिलाकर निश्कर्श यही है कि आरक्षण के मुद्दे को समस्या बनने से तब तक ही रोका जा सकता है जब केवल वोटों के लिए इसका इस्तेमाल नहीं किया जाकर सम्पूर्ण प्रश्न पर तटस्थ भाव से सोचकर निर्णय लिए जाये व उसे शक्ति के साथ लागू किया जाए, लेकिन ऐसी आशा केवल अपने लिए राजनीति करने वालों से कैसे की जा सकती है। निष्कर्ष के रूप मे ंहम कह सकते हैं कि समाज में व्यवस्था एवं एकता बनाये रखने के लिए शिक्षा व्यवस्था, एकता, सामंजस्य, सौहार्दपूर्ण भावना का होना आवश्यक है।

सन्दर्भ

1. आहूजा रामः सामाजिक समस्यायें, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर नई दिल्ली 2000
2. आर0 डी0 जाटवः सामाजिक न्याय का सिद्धान्त, साहित्य सदन, जयपुर 1993
3. चतुर्वेदी मधुकुकुल डॉ0ः भारतीय संविधान में व्यक्ति की गरिमा एवं मानव अधिकार, राज पब्लिशिंग हाउस जयपुर 2003
4. कश्यप सुभाशः हमारा संविधान, नैशनल बुक ट्रस्ट आफ इण्डिया नई दिल्ली 2002
5. नारायणी पी0 एन0ः भारत में सामाजिक विकास, पब्किेशन्स दिल्ली 2010
6. पूरणमलः मानवाधिकार सामाजिक न्याय और भारत का संविधान, पोइन्टर पब्लिशर्स, जयपुर 2003
7. पी0 डी0 मैथ्यूः सामाजिक न्याय संगठन, भारतीय सामाजिक संस्थान, नई दिल्ली 1987
8. सिंह रामगोपालः सामाजिक न्याय, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, नई दिल्ली 1999

शोध पत्रिकायें

1. डॉ0 अम्बेड़कर सामाजिक न्याय संदेश जनजेतना हिन्दी मासिक, नई दिल्ली वर्ष 1, अंक 8, जुलाई 2003 पृ0 4
2. प्रो0 एस0 एन0 मिश्रा, भारतीय लोक प्रशासन संस्थान, नई दिल्ली, अर्धवार्षिक शोध पत्रिका, दिसम्बर 2011